

प्रारब्ध-परिवर्तन

(१)

सुलतानसिंह ने दृढ़ता से कहा—मैं एक वर्ष के अन्दर अन्दर अपना प्रारब्ध बदल लूँगा ।

सागरचन्द्र जोश में तीर के समान तनकर खड़ा हो गया, और आश्र्य से बोला—“तुम हँसी तो नहीं कर रहे !”

“यह हँसी का अवसर नहीं ।”

“तो सच कह रहे हो ?”

“हाँ हाँ सच ।”

“इतने थोड़े समय में तुम सफल हो जाओगे, इसकी तुम्हें आशा है ?”
“सोलह आने ।”

“आज क्या तारीख है ?”

सुलतानसिंह ने दीवार पर लटके हुए एक मैले से कैलेन्डर की ओर देख कर कहा—तीस आक्टोबर १९१२ हँसवी ।

“तो पहली नवम्बर १९१३ का सूरज तुम्हें निर्धन न देखेगा ।”

“कभी नहीं ।”

सुलतानसिंह उन मनुष्यों में से था, जिन्हें लोग भलेमानस बदमाश कहते हैं। कभी उसने बहुत अच्छे दिन देखे थे। उसका पिता दौलतराम नगर के बड़े

वडे रहसों में से एक था । उसके पास रुपये की कमी न थी । सदरबाज़ार में तीन दुकानें थीं, दो मकान, बैंकों में रुपया इनके अतिरिक्त था । परन्तु इतना ही नहीं, उसका हृदय भी सज्जावों से भरपूर था । जब तक जीता रहा, उसके नाम की नगर भर में पूजा होती रही । परन्तु इधर उसने आँखें बंद कीं, उधर सुलतानसिंह ने उसका रुपया उड़ाने पर कमर कस ली । दौलतराम की रोक-टोक ने सुलतानसिंह को कभी मर्यादा से बाहर न जाने दिया था । उस समय वह एक बे-पर के पक्षी के समान था, जिसकी बेबसी से अधिक करुणाजनक उसकी उड़ने की हच्छा थी । दौलतराम की मृत्यु ने उसको पर लगा दिये । दो वर्ष तक दिल खोलकर आनन्द लटे और मनमानी मौज़े करता रहा । यह काल उसके जीवन का सुख-स्वग्रह था, जिसको तोड़ने के लिए कोई जाग्रति न थी । सप्ताह के सातों दिन जलसे होते रहते थे और ये जलसे कोई साधारण जलसे न होते थे । एक एक दिन में सैकड़ों पर पानी फिर जाता था । उसकी रङ्गरेखियों ने उसकी पैत्रिक सम्पत्ति को नष्ट कर डाला, जिस प्रकार बरसाती नालों का वेगवान् प्रवाह किनारों के टूट जाने से हरी-भरी खेतियों को निगल जाता है ।

परन्तु फिर भी उसके चेहरे-मोहरे से यह ख़्याल न होता था कि उसमें ये गुण भी होंगे । वह इतना भलामानस और भोला-भाला प्रतीत होता था कि अनजान मनुष्य ग्रायः धोखा खा जाते थे, और समझ बैठते थे कि उसके मुँह में तो दाँत ही नहीं । उसकी विनाई दृष्टि, नम्र आँखें और भोली बातें देखकर किसी को कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि यह मनुष्य विलासी भी हो सकता है । उसने नक़द रुपया उड़ा दिया, मकानों को रेहन भी रख दिया, परन्तु उन्हें बेचा नहीं । इमारत गिर गई थी, परन्तु चारदीवारी उसी प्रकार खड़ी थी । यह चारदीवारी उसकी पुरानी शोभा का चिह्न थी, जिसे बनाये रखने के लिए वह तन-मन से यत्कर रहा था । मनुष्य इतना अपमान से नहीं डरता जितना उसकी चर्चा से डरता है । सुलतानसिंह ने जो कुछ किया, पर्दे की ओट में किया । यद्यपि उसकी थोड़ी बहुत निन्दा हो चुकी थी, तो भी इतनी नहीं कि लोग घृणा करने लगें । उसके पिता का दशबद्धा अभी तक बाक़ी था । मनुष्य मर जाता है, परन्तु उसका नाम जीवित रहता है ।

इसी प्रकार कुछ वर्ष बीत गये । सुलतानसिंह की आँखें खुलीं । जब तक

हाथ खुला था तब तक कोई विचार न था । रूपया आता था, खर्च हो जाता था । बैंक से मँगवाने में कोई परिश्रम न करना पड़ता था । एक काशज़ का पुर्जा ही भेजने से काम चल जाता था । परन्तु जब वह खर्च हो गया तब बसन्त में पतझड़ के चिह्न दिखाई देने लगे । सुलतानसिंह चिन्ता में छूब गया । जिस प्रकार नाटक देखने के पश्चात् मनुष्य मण्डप के बाहर का अन्धकार देखकर घबरा जाता है, उसी प्रकार सुलतानसिंह के सामने निराशा ने अँधेरा खोल दिया । इस निराशा में कितनी वेदना थी, कैसा सन्ताप । सुलतानसिंह के हृदय पर मानो किसी ने गर्म लोहा रख दिया । एक दिन देर तक अपनी अवस्था को आलोचना करता रहा । अन्त में तलमलाकर खड़ा हो गया, और दृढ़ता से बोला—“मैं एक वर्ष के अन्दर अन्दर अपना प्रारब्ध बदल लूँगा ।”

(२)

सागरचन्द सुलतानसिंह का मित्र था । सुलतानसिंह को उस पर पूरा-पूरा भरोसा था । वह अपनी गुस्से से गुस्स बातों में भी उसे समिलित करने से नहीं हिचकिचाता था । सागरचन्द को केवल सुलतानसिंह के रूपये की लालसा हो, यह बात न थी । उसे स्वयं सुलतानसिंह से प्यार था । प्रायः देखा जाता है कि बुरे से बुरे मनुष्यों में भी कोई न कोई अच्छा गुण पाया जाता है, जिस प्रकार काली से काली घटा के गिर्द श्वेत धारी होती है । सागरचन्द छटा हुआ बढ़-माश था, परन्तु उसमें एक गुण था । मैत्री निभाने का भाव उसमें कूट-कूट-कर भरा हुआ था । जब सुलतानसिंह ने खर्च से हाथ खींचना आरम्भ किया तो उसके मित्रों का आना-जाना घट गया । वे अच्छे कुल के थे । परन्तु सागरचन्द की चाल-दाल में अन्तर न आया, वह नीच कमीना था । प्लेग के दिनों में नगर खाली हो जाते हैं, और कुलीन लोग लाशें छोड़-छोड़कर प्राण बचाने के लिए भाग खड़े होते हैं, परन्तु कमीने लोग अपने प्राणों की परवा नहीं करते ।

सागरचन्द जब सुलतानसिंह के मन का भाव जान गया कि वह एक वर्ष में अपनी स्थिति को सुधार लेगा तब उसका हृदय आनन्द के हिलारें लेने लगा, जैसे कमल जल में तैरता है । इस समय उसकी आँखों में चमक थी, होठों पर मुस्कराहट । सहानुभूति के भाव से आगे बढ़ा, और बोला—“क्या करोगे ?”

सुलतानसिंह ने उत्तर दिया—“यक्क करना धर्म है, वह करूँगा, आगे देखता चाहिए, विधाता क्या करता है।”

सागरचन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे सुलतानसिंह उससे बात छिपाता है। उसके कलेजे में तीर-सा लगा। अनमना-सा होकर बोला—“मुझसे नहीं कहोगे!”

सुलतानसिंह सागरचन्द की बात समझ गया। उसने घबराकर कहा—“मेरा यह आशय न था।”

“तो बात खोल क्यों नहीं देते?”

“अभी सुना चाहते हो या ठहरकर?”

“मेरा मन तो अभी चाहता है। जब तक सुन न लूँगा, चैन न आयेगा।”

सुलतानसिंह ने कमरे से बाहर इष्टि दौड़ाई, और बोला—“मैं व्याह करूँगा।”

“इसके पश्चात्?”

“खी की ज़िन्दगी का बीमा करवा लूँगा।”

“फिर?”

“खी मर जायगी।”

“न मरीं तो?”

“न मरने का कारण क्या है? अवश्य मरेगी।”

सागरचन्द निपट मूर्ख ही न था। उसने मिडल तक शिक्षा पाई थी। सुलतानसिंह की भयानक हँसी देकर सब बात ताढ़ गया, और बोला—“बहुत अच्छा, अर्थात् उनका जीवन तुम्हारे हाथ में होगा।”

“पूर्णरूप से।”

“इससे आगे चलो।”

“वह मर जायगी, मेरा प्रारब्ध बदल जायगा।”

सागरचन्द कुछ समय तक तुल रहा। उसने यह नहीं सोचा कि यह घोर पाप है। वह इससे भी आगे जाने को तैयार था। परन्तु डरता था कि कहीं सुलतानसिंह डोल न जाय अथवा इससे उसे कोई हानि न पहुँचे। उसने इस प्रश्न के प्रत्येक अंश पर विचार किया और कहा—“स्कीम तो बहुत बढ़िया है। यदि सफल हो जाय तो सचमुच तुम्हारा प्रारब्ध बदल सकता है, परन्तु इससे भय भी बहुत है।”

सुलतानसिंह ने उत्तर दिया—“भाई, मोती समुद्र की तह ही से निकलता है। उसके लिए मृत्यु के मुख में जाना होता है।”

इस समय सुलतानसिंह ऐसा प्रसन्न था, जैसे कोई राज्य मिल गया हो। सफलता का विचार सफलता से भी बढ़कर सुखदायक है।

इसके दो मास पश्चात् सुलतानसिंह का ब्याह हो गया।

(३)

सन्ध्या का समय था। सुलतानसिंह अपने आँगन में आरामकुर्सी पर बैठा एक उपन्यास देख रहा था। इतने में नौकर ने आकर कहा—“सरकार! मिनर्वा इनश्योरेंस कंपनी का एजेंट आया है।

सुलतानसिंह ने पुस्तक हाथ से रख दी, और उठकर टहलने लगा। इस समय उसके हृदय में विचारों की उथल-पुथल हो रही थी। सोचने लगा, क्या करने लगा हूँ। मेरे पिता ने लोक-हित के लिए पक्की सरायें बनवाई थीं, मैं अपने लिए एक निर्दोष बालिका की हत्या करने लगा हूँ। पिता-पुत्र में कितना अन्तर है। यदि यह बात किसी तरह खुल गई तो...

सुलतानसिंह का मस्तिष्क खौलने लगा, उस पर भयानक आतङ्क सा छा गया। पाप का विचार भी भयानक है। सुलतानसिंह का हृदय डोल गया। सोचा कि यह पाप न करूँगा। परन्तु इतने में लोभ ने तिर उठाया, मन का विचार बदल गया। सुलतानसिंह ने उत्तर दिया—“बुला लाओ।”

पाप का मार्ग कितना साफ़ है।

एजेंट ने आकर सलाम किया, और बैठकर कंपनी के प्रासपेक्टस सुलतान-सिंह के हाथ में रख दिये। सुलतानसिंह ने कुछ पृष्ठ उलट-पलटकर देखे, और पूछा—“आपकी कंपनी स्थिरों का बीमा भी किया करती है?”

एजेंट ने कुछ विस्मित-सा होकर उत्तर दिया—“जी हाँ, करती है।”

“उसके Rates दिखलाहए।”

“कितने वर्ष के लिए?”

“बीस साल के लिए।”

एजेंट ने एक पृष्ठ निकालकर कहा—“यह है।”

“बहुत ज्यादा है।”

“खियों के अधिक ही होते हैं, कंपनी को बड़ा Risk होता है।”

“हुँ।”

“आप कितने रुपयों की पालिसी लेना चाहते हैं।”

“एक लाख की।”

एजंट ने उछलकर कहा—“एक लाख की?”

“हाँ एक लाख की; कितने रुपये मासिक देने होंगे?”

एजंट ने पहले यह हिसाब लगाया कि मुझे मासिक कमीशन क्या मिला करेगा। आशा ने अनार के फूल के समान मुँह का रङ्ग लाल कर दिया। फिर उसने धीरज से उत्तर दिया—“पाँच सौ रुपये मासिक।”

“बहुत बड़ी रकम है, अर्थात् सबा लाख के लगभग तो हम देंगे और हमको मिलेगा एक लाख। इसमें तो साफ़ हानि दिखाई देती है।”

एजंट का कलेजा धड़कने लगा। डर था कि कहीं इरादा रह न जाय, जोश से बोला—“सरकार! कंपनी जो रिस सिर पर ले रही है वह भी तो थोड़ा नहीं, एक लाख की रकम भी तो कोई चीज़ है। भारतवर्ष में इसकी प्रथा प्रचलित नहीं, योरप में प्रत्येक मनुष्य बीमा कराना अपना कर्तव्य समझता है। यही कारण है कि वहाँ एक मनुष्य की मृत्यु पर सारा परिवार भूखों नहीं मरता।”

सुलतानसिंह अपने विचारों में निमग्न था। एजंट ने समझा, मेरी स्पीच काम कर गई। सँभलकर बोला—“तो फ़ार्म भर दीजिएगा, कल डाक्टरी परीक्षा हो जायगी।”

कॉप्टे हुए हाथों ने फ़ार्म भर दिया। दूसरे दिन डाक्टरी परीक्षा होगई। सुलतानसिंह ने शान्ति का निःश्वास छोड़ा। सफलता के दो दर्जे पूरे हो गये। क्या तीसरा भी होगा।

(४)

छः मास बीत गये। सुलतानसिंह ने अपनी छी सतवन्ती की ओर ध्यान न दिया। वह प्रायः मर्दाने ही में रहता था। ज्ञाने में जाते हुए उसका कलेजा कॉप्टा था। वह प्रायः रात को भी मर्दाने में पड़ा रहता था।

सतवन्ती से जहाँ तक हो सके कम भेंट करूँ, यही उसका यत्न था। उसके मुख की ओर देखकर उसके इरादे बदल जाते थे। वह कभी कभी उसकी मदभरी आँखों को देख लेता तो कई दिन तक उसके हृदय में हृच्छल मची रहती थी। उसकी यह इच्छा कि स्त्री कुरुपा हो, पूरी न हुई। वह परमसुन्दरी थी, जैसे सफेद पत्थर की मूर्ति। उसे देखकर सुलतानसिंह चकित रह जाता था। उसने बढ़िया से बढ़िया सुन्दरियाँ देखी थीं, परन्तु ऐसी रूपवती खी आज तक न देखी थी। उसे सन्देह होने लगा कि मैं अपना काम न कर सकूँगा। यह सौन्दर्य का चमत्कार था। कहते हैं कि सौन्दर्य से पशु भी वश में आ जाते हैं। क्या सुलतानसिंह उनसे भी गया गुज़रा है।

वर्षा के दिन थे, आकाश पर बादल खेलते थे। सुलतानसिंह शराब के मद में चूर हुआ, एक शीशी लिये ज़नाने में आया, और सतवन्ती से बोला—“तुम्हारे लिए दवा है। प्रतिदिन सवेरे उठकर पिया करो। तुम निर्बैल हो रही हो, अच्छी हो जाओगी।”

यह दवा एक वैद्य ने तैयार की थी, जिसका घातक प्रभाव धीरे धीरे हड्डियों में घर कर जाता था, और जाँच करने से पता नहीं लगता था कि मृतक को विष दिया गया है। सतवन्ती ने पति के मुख से ये प्रेम से सने हुए वचन सुने, तो स्वर्ग में पहुँच गई, और मुस्कराती हुई बोली—“यह क्या है, शराब तो नहीं।”

“नहीं, ताकत की दवा है”

“भाष भी पिया करें, चिन्ता ने मुँह का क्या हाल कर दिया है।”

कैसा वचन था, प्रेमरस में फूबा हुआ। सुलतानसिंह के अन्तःकरण ने उसे फटकारना आरम्भ किया, परन्तु उसने अपने इस भाव को अन्दर ही अन्दर दबा दिया और कहा—“मेरे लिए दूसरी दबा बन रही है।”

इस समय उसके सीने में दिल ज़ोर ज़ोर से धड़क रहा था।

(५)

दिन चढ़ा, परन्तु सुलतानसिंह को सुधि न थी। सतवन्ती के हाथों के तोते उड़ गये। उसने घबराकर डाक्टर को बुलवाया। इस समय सुलतानसिंह

अचेत पढ़ा था। डाक्टर ने आकर देखा १०६ डिग्री का ज्वर था? सतवन्ती सुनकर सहम गई, उसकी आँखों में पानी आ गया। भर्है हुई भावाज़ में बोली—“कोई खतरा तो नहीं?”

“अभी तक तो कोई नहीं। परन्तु डर है कि बहुत जल्द नेमोनिया हो जायगा।”

सतवन्ती की रोकी हुई चीख निकल गई। डाक्टर ने कहा—“इससे क्या होगा, सेवा करो।”

बहता हुआ पानी थम गया। सतवन्ती सावधान होकर सेवा करने लगी। उसने समझ लिया कि इस समय रोने से काम न चलेगा। लुटता हुआ जीवन बच सकता है तो एक-मात्र सेवा से। वह पति के सिरहाने बैठ गई और समय पर द्वा पिलाने लगी। दिन बीत गया, परन्तु ज्वर न घटा। रात बीती, पर अन्तर न पढ़ा। डाक्टर ने आकर देखा और कहा—“जिस बात का डर था वह हो गई। नेमोनिया बन गया है।”

सत्यवन्ती के कलेजे में भाला सा चुभ गया। परन्तु उसने आँखों को वश में रखा और सेवा-शुश्रूपा में निमग्न हो गई। सुलतानसिंह लगातार एक मास बीमार रहा। सतवन्ती ने दिन-रात एक कर दिया। जब कभी सुलतान-सिंह सचेत होता, सतवन्ती श्रद्धाभाव से शुश्रूपा में लगी देख पड़ती।

यह देखकर वह सोचता, यह कितनी नेक है, प्रेम की मूर्ति, और मैं कितना नीच हूँ, स्पष्टे का दास। इस विचार से उसके हृदय में सैकड़ों प्रकार के उथल-पुथल होने लगते। जो काम सुन्दरता न कर सकती थी, वह प्रेम और सेवा ने कर दिया।

जिस दिन सुलतानसिंह चारपाई से उठा, उस दिन सतवन्ती के आनन्द की थाह न थी। उसका मुख इस प्रकार चमकता था, जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा। डाक्टर ने सुलतानसिंह से कहा—“मैं सच कहता हूँ कि यदि यह ऐसा मन लगाकर आपकी सेवा न करती तो आपका बचना असंभव ही हो चुका था।”

डाक्टर चला गया, तो सतवन्ती ने धूँधट उठाया। सुलतानसिंह गदगद प्रसन्न हो रहा था। वह अतिशय प्रेम में व्याकुल होकर बोला—“सतवन्ती!”

सतवन्ती ने उत्तर दिया—“आप बहुत निर्बल हो गये हैं, वह मेरी ही दवा पी लिया करें, निर्बलता दूर हो जायगी।”

सुलतानसिंह को जैसे किसी ने गोली मार दी, घबराकर बोला—“वह तुमने पी तो नहीं ली।”

“नहीं।”

“ज़रा ले आओ।”

सतवन्ती दौड़कर अलमारी से बोतल उठा लाई, और एक अपराधिनी के समान पति की ओर देखकर बोली—“आपकी बीमारी के कारण मुझे इसके पीने का ध्यान ही न रहा। ज़मा कर दें, अब पी लिया करूँगी।”

सुलतानसिंह ने उसे ज़ोर से दीवार पर मारा, और शान्ति की सौंस ली।

सतवन्ती सहमकर पीछे हट गई, और बोली—“यह आपने क्या किया है? बड़ी कीमती दवा थी।”

सुलतानसिंह ने इसका कोई उत्तर न दिया, केवल सतवन्ती की ओर देखकर भुजाएँ कैला दीं।

एकाएक उसकी दृष्टि कैलेन्डर की ओर गई। उस दिन नवम्बर की पहली थी। उसे एक वर्ष पहले का वचन याद आ गया कि मैं एक वर्ष के अन्दर अपना प्रारब्ध बदल लूँगा, और पहली नवम्बर का सूरज मुझे निर्धन न देखेगा।

और क्या वह निर्धन था? उसे धन नहीं, परन्तु धन से बढ़कर ऐसी वस्तु मिल चुकी थी जिसके लिए संसार के राजे-महराजे भी तरसते हैं।

थोड़ी देर बाद सागरचन्द आया, परन्तु इस तरह सहमा हुआ जैसे उसे कोई दण्ड मिलनेवाला हो। उसे ख़्याल ही नहीं, निश्चय होगया था कि जाकर सतवन्ती की मृत्यु का समाचार सुनेंगा। अतएव आश्र्यभरी दृष्टि से उसने सुलतानसिंह की ओर देखा। आँखों ने आँखों से प्रश्न किया।

सुलतानसिंह ने मुस्कराकर कहा—“क्या पूछते हो?”

“सतवन्ती का क्या हुआ?”

“आनन्द-प्रसन्न है।”

सागरचन्द की छाती से जैसे कोई बोझ उतर गया। प्रसन्न होकर बोला—“धन्यवाद है उस परमेश्वर को, जो तुमने अपना वचन पूरा नहीं किया। जब

मैं उस बेचारी लड़की को दिन-रात घूँघट निकाले हुए श्रद्धा और प्रेम से तुम्हारी सेवा करते देखता था और उसके साथ ही तुम्हारी प्रतिज्ञा का स्वयाल करता था, तब मेरा कलेजा काँप जाता था ?”

“परन्तु मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दी ।”

सागरचंद घबराकर खड़ा हो गया, उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने उसका गला दबा दिया हो । रुक-रुककर बोला—“क्या कहते हो ?”

“मेरा प्रारब्ध बदल गया है, मैं अब निर्धन नहीं हूँ । परन्तु मेरे इस प्रारब्ध-परिवर्तन का कारण मेरी खींकी की मृत्यु नहीं, प्रत्युत उसका जीवन है ।”

यह कहते कहते सुलतानसिंह ने अपनी सजल आँखें बन्द कर लीं और आरामकुर्सी के सहारे पीठ लगाकर लेट गया ।